ही प्राप्त होता; अपितु, सब प्रकार के शुभ, अशुभ और पापकर्मों से सर्वथा असंग (निर्लिप्त) रहता है। श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए वह बड़ी से बड़ी विपत्ति को हृदय से लगा सकता है। उसकी भगवत्सेवा में किसी कारण कभी अन्तर नहीं पड़ सकता। अतएव कहना न होगा कि ऐसा भक्त श्रीकृष्ण को अति प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।१८।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।१९।।

समः=समान है; **शत्रौ**=शत्रु; **च**=तथा; **मित्रे**=मित्र में; **च**=भी; **तथा**=इसी प्रकार; **मान**=सम्मान; **अपमानयोः**=अपमान में; **शीत**=सर्दी; **उष्ण**=गर्मी; **सुख**=सुख; **दुःखेषु**=दुःख में; **समः**=सम है; **संगविवर्जितः**=कुसंग से मुक्त है; **तुल्य**=समान समझने वाला; **निन्दा**=अपयश; **स्तुतिः**=यश को; **मौनी**=मननशील; **संतुष्टः**=सदा संतुष्ट है; **येन केनचित्**=जिस किसी प्रकार शरीर का निर्वाह होने में; **अनिकेतः**=जिसका कोई नियत निवास नहीं है; **स्थिरमतिः**=दृढ़ निश्चय वाला; **भक्तिमान्**=भक्ति के परायण; **मे**=मेरा; **प्रियः**=प्रिय; **नरः**=मनुष्य।

अनुवाद

जो शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखादि में समान है और कुसंग से मुक्त है, जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला है और मननशील है, जो सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसका कोई नियत निवास नहीं है और जो ज्ञान में स्थित है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।१८-१९।।

तात्पर्य

भक्त सदा सब प्रकार के कुसंग से मुक्त रहता है। कभी यश हुआ करता है तो कभी अपयश; यह मानवसमाज का स्वभाव-सा है। भक्त ऐसे लौकिक मान-अपमान, सुख-दुःख आदि से सदा परे है। उसके धैर्य की सीमा नहीं होती। कृष्णकथा के अतिरिक्त वह कुछ नहीं बोलता; इसी से उसे **मौनी** कहा जाता है। **मौनी** होने का अर्थ यह नहीं कि बिल्कुल चुप रहे। अनर्थ भाषण न करने का नाम ही मौन है। आवश्यक होने पर वाणी का उपयोग करना चाहिए और भगवत्कथा सुनाना भक्त के लिए परम आवश्यक है। वह सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त रहता है। कभी स्वादिष्ट भोजन मिलता है तो कभी नहीं मिलता; पर वह किसी भी स्थिति में सन्तुष्ट रह सकता है। उसे किसी निश्चित घर की भी अपेक्षा नहीं। वह वृक्ष के आश्रय में भी रह सकता है और महल में भी—कहीं उसकी आसक्ति नहीं होती। दृढ़ निश्चय और ज्ञान से युक्त होने के कारण उसे **स्थिरमति** कहा गया है। पूर्ववर्ती श्लोकों में भक्त के कुछ लक्षणों की पुनरावृत्ति इस बात पर बल देने के लिए है कि भक्त को इन गुणों का अर्जन अवश्य-अवश्य करना है। सद्गुणों के बिना कोई शुद्धभक्त नहीं बन सकता। अभक्त में कोई सद्गुण नहीं होता। अतः भक्त-पद की प्राप्ति के लिए उपरोक्त सद्गुणों का विकास